

# शिक्षा को लेकर कुछ विचार

रिचा चौहान, जया मिश्रा एवं क्रिस्टोफर खाल्खो

“ हमारी शिक्षा में उस हाथ के काम की क्या हैसियत है जिसे गांधी ने अपनी शिक्षा की परिकल्पना की धुरी बनाया था? प्रश्नोत्तरी व परीक्षा किस प्रकार ज्ञान सृजन में बाधा बनती हैं और कैसे वह ज्ञान सृजन में छात्रों की भागीदारी को नकार देती है। शिक्षा में संवाद के मायने क्या हैं? संवाद करने की मूलभूत शर्तें दार्शनिक बूबर क्या मानते हैं? ऐसे सवालों पर विचार करती ये टिप्पणियां इनके लेखकों के शिक्षक बनने के दौरान के अनुभवों से उपजी है और बहुत सारगर्भित है। ”

## हाथ के काम की शिक्षा में जगह'

गांधी जी का कला-केन्द्रित शिक्षा सिद्धांत हाथ के काम को सारी शिक्षा का आधार मानता है। काम के प्रयोग से गांधीजी ने समाज में बसे जातिवाद एवं वर्गीकरण को दूर करना चाहा तथा हर व्यक्ति को आर्थिक रूप से एवं ज्ञान-निर्माण के क्षेत्र में आत्मनिर्भर बनाना चाहा। परन्तु क्या वे अपने उद्देश्य में सफल रहे? आइए, कुछ उदाहरणों द्वारा देखें कि हाथ के काम की आज की शिक्षा प्रणाली में क्या जगह है।

मेरी शिक्षा पश्चिमी दिल्ली के एक रूढ़िवादी मिशनरी विद्यालय में हुई है, जहां काम को पाठ्यक्रम का बहुत छोटा हिस्सा माना जाता था। काम का महत्व केवल 'वर्क एक्सपीरियंस' एवं 'होम साइंस' के विषयों तक सीमित था। इन विषयों का कुछ दबाव तो था, परन्तु वह सारा दबाव हमारी मौजूदा शिक्षा प्रणाली में न के बराबर हो जाता था। 'वर्क एक्सपीरियंस' में सभी छात्रों को हफ्ते में एक बार झाड़ू लगाने, कक्षा साफ करने एवं पुस्तकालय में किताबें सरियाने का मौका दिया जाता था। यह काम हर हफ्ते बदलते थे, ताकि हर हफ्ते हर विद्यार्थी को कोई दूसरा काम मिल सके। इन कामों के लिए हमें कोई अंक नहीं दिए जाते थे। केवल हमारी उपस्थिति देखी जाती थी, जिसे दो छात्र हर हफ्ते बारी-बारी लिया करते थे। एक दिन इसी प्रकार जब मैं बाहर झाड़ू लगाने के काम में मग्न था, उपस्थिति लगाने वाला एक छात्र मुझसे आकर बोला- 'वाह! इतनी मेहनत के लिए तो तुम्हें दो उपस्थिति मिलनी चाहिए।' मेरे हिसाब से इस ताने में यही कहना छुपा था कि जब हमें कोई अंक नहीं मिलने वाले, तो इतनी मेहनत करके क्या फायदा? इसका मतलब लाभ से भिन्न काम का अपने-आपमें कोई मूल्य नहीं था; काम सिर्फ लाभ के लिए करना चाहिए।

इसी प्रकार एक दिन एक छात्र ने गंदे बरतन साफ करने से इंकार कर दिया। लड़की उच्च-मध्यम वर्गीय परिवार की थी; कहती थी अपने जीवन में कभी बरतन साफ नहीं किए, न आज शुरू करने वाली है। यह उदाहरण साफ दर्शाते हैं कि किस प्रकार काम सिर्फ प्रतीकवाद के उदाहरण बन कर रह गए हैं। उनकी अपने-आपमें कोई गरिमा नहीं। अंकों एवं टीचर की प्रशंसा के अतिरिक्त काम का कोई महत्व नहीं। इन दोनों लाभों के अलावा काम की दुर्गति का एक कारण उसे 'को-करिकुलम' का नाम दिया जाना भी हो सकता है। 'को-करिकुलम' कहते ही हम काम को मुख्य धारा विषयों से अलग कर उसके महत्व को खत्म कर देते हैं; यह विच्छेद काम को बहुत भारी पड़ता है।

जबकि गांधीजी ने इन सिद्धांतों के द्वारा कक्षा में बसे जातिवाद, वर्गभेद, क्षेत्रवाद एवं धर्म-आधारित भेदभाव को खत्म करना चाहा था। परन्तु यह तब तक नहीं हो सकता जब तक आमूलचूल बदलाव नहीं आता। यानी शिक्षा प्रणाली में सुधार मात्र से काम नहीं चलेगा, बल्कि हमारी पूरी शिक्षा व्यवस्था में बदलाव की जरूरत होगी। जब तक यह नहीं होता, हमारे छात्र कक्षा में अनुभव के लिए नहीं वरन ढोंगी लाभों के लिए काम करते रहेंगे तथा जातिवाद एवं स्वेच्छाचारी वर्गभेद का प्रतिपादन करते रहेंगे।

### परीक्षा आधारित शिक्षा पद्धति बनाम ज्ञान सृजन<sup>2</sup>

आजकल स्कूलों तथा शैक्षणिक संस्थानों में प्रश्नोत्तरी का बड़ा प्रचलन देखने को मिलता है। प्रश्नोत्तरी की संस्कृति ने खुद को यूँ स्थापित कर लिया है कि ज्यादातर शिक्षक विद्यार्थियों के ज्ञान का आकलन इसी प्रणाली के आधार पर करते हैं। मैंने स्वयं अपने स्कूली अनुभवों में देखा है कि कैसे शिक्षक नियमित रूप से कक्षाओं में प्रश्नोत्तरी के माध्यम से इम्तिहान लेते हैं। यह शैली न केवल विद्यार्थियों को तथ्यों को रटने व याद करने को विवश कर देती है बल्कि विषयों से परे जाकर अपने अनुभवों को शामिल करने से भी रोकती है।

ज्ञान का सही अनुगमन हो सके इसके लिए यह आवश्यक है कि ज्ञान क्या है इसकी उचित समझ हो। क्या किताबों में दिए या शिक्षक के बताए शब्द ज्ञान है? दरअसल ये जानकारी मात्र हैं। ज्ञान का निर्माण तब होता है जब किताबों में दिए विचारों का विश्लेषण अपने अनुभवों द्वारा किया जाए। जब हमारे अनुभव ही इतने विविध हैं तो ज्ञान में एकरूपता कैसे हो सकती है? ज्ञान मूलतः 'अर्थ-निर्माण' करने की एक प्रक्रिया है जिसके जरिए विद्यार्थी स्वयं बड़ी ही सक्रियता से अपनी गतिविधियों के आधार पर अपनी समझ बनाते हैं। शिक्षा के प्रक्रम की पहली पदध्वनि है कि ज्ञान सृजनात्मक है तथा हम हर एक क्षण अपने भीतरी तथा बाहरी परिवेश के साथ एक तरह की मुठभेड़ में होते हैं। अगर इस सूत्र की गांठ बांध ली जाए तो मुझे लगता है कि विद्यार्थियों के ज्ञान प्राप्ति का आकलन प्रश्नोत्तरी, परीक्षाओं तथा ऐसी प्रतियोगिताओं से नहीं किया जा सकता जो ज्ञान को पूर्वनिर्धारित सख्त वर्गों में बांटती हो। अगर हम ज्ञान की प्रकृति को मूलतः 'निर्मित' समझते हैं तो हम ऐसी पद्धतियों जो अंकों का आवंटन उत्तरों की सटीकता व समानता के आधार पर करती हैं उन्हें न केवल व्यर्थ कहेंगे बल्कि विद्यार्थी के मानसिक तथा व्यक्तित्व के विकास के लिए खतरनाक भी समझेंगे। विद्यार्थी स्वयं अपने ज्ञान की संरचना करे इसके लिए शिक्षा प्रणाली में उनकी गलतियों तथा अपने अनुभवों द्वारा ठोस चीजों को बदलने की इच्छा की जगह होनी जरूरी है- ऐसा एन.सी.एफ 2005 में कहा गया है।

प्रश्नोत्तरी के जरिये एक समान जवाबों तक पहुंचने की उम्मीद में शिक्षक या शैक्षणिक संस्थानों द्वारा विद्यार्थी को एक ऐसी मशीन में तबदील कर दिया जाता है जिसका मूल उद्देश्य पाठ्यपुस्तकों में उद्धृत व शिक्षक द्वारा बोले गए कथनों को परीक्षा में दोहराना भर रह जाता है। जॉन होल्ट इस विषय में कहते हैं कि ऐसी पद्धतियां न सिर्फ विद्यार्थियों के व्यक्तिगत व व्यक्तिपरक अनुभवों को दबाकर उन्हें भेड़रूपी शिक्षक के पीछे 'भेड़चाल' चलने पर मजबूर कर देती हैं बल्कि उनकी उत्सुकता व विविध आवाजों और समझ की भी बलि चढ़ा शिक्षा को एक निश्चल नीरस प्रक्रिया बना देती है।

निःसंदेह ही ऐसे शिक्षक जो इन पद्धतियों का सहारा लेते हैं, वे ज्ञान व शिक्षा अर्जन की एक विकृत परिभाषा में विश्वास रखते हैं। ऐसी शिक्षा व्यवस्था न सिर्फ निर्माणवाद के दृष्टिकोण से पुरानी हो चुकी है बल्कि ये विद्यार्थियों

के सामने एक ऐसी भयावह रूपरेखा प्रस्तुत करती है जहां उनके योगदान को कोई मान्यता नहीं होती। ऐसे में शिक्षा सुदूरवर्ती अनुभव और विद्यार्थी इस कठोर प्रणाली का शिकार बनकर रह जाते हैं। प्लेटो ने शिक्षक को एक पथ-प्रदर्शक व आत्मा को दिशा दिखाने वाले ऐसे चरित्र के रूप में देखा था जो विद्यार्थी के मन को अंधकार से ज्ञान के उजाले की ओर मोड़ता है। आत्मा की सक्रियता के लिए आवश्यक है विद्यार्थी का स्वयं क्रियाशील रहना किन्तु कठोर शिक्षा प्रणाली इसमें बाधा बनती है। प्रतिस्पर्धा, डर व अंकों के पीछे की दौड़ को बढ़ावा देने के साथ ही ऐसी प्रणाली विद्यार्थियों में असमर्थता का ऐसा बोध जगाने लगती है जहां वे अपने वास्तविक जीवन्त अनुभवों को स्कूल की दुनिया के साथ जोड़कर नहीं देख पाते।

ज्ञान हासिल करने में मददगार के तौर पर शिक्षक एक बहुत अहम कड़ी है। यह शिक्षक पर निर्भर है कि उसके विद्यार्थियों का विकास किस प्रकार हो। एक समझदार अध्यापक हमेशा अपने विद्यार्थियों के अनुभवों एवं उनकी समझ को बढ़ावा देगा। शिक्षा के दायरे तभी बढ़ पाएंगे जब विद्यार्थियों द्वारा ज्ञान के सृजन को पहचाना व सराहा जाएगा।

### शिक्षा में संवाद<sup>3</sup>

मार्टिन बूबर (1878-1965) दार्शनिक अंदाज में यह व्यक्त करते हैं कि मनुष्य का जीवन उसके रचयिता व भौतिक संसार के साथ समागम के बगैर अर्थहीन है। इसी विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए वे शिक्षक-विद्यार्थी के संबंध में आत्मीयता होने की बात कहते हैं; जिसके लिए उन्होंने दोनों के बीच परस्पर संवाद पर जोर डाला है।

पारंपरिक शिक्षा पद्धति विद्यार्थी को निष्क्रिय मानती है। ऐसे में एक शिक्षक का कार्य केवल सूचना व समझदारी को 'ऊपर से डालना' होता है। अतः शिक्षक को यहां 'कुप्पी' की संज्ञा दी गई है। इसके विपरीत 'नई' शिक्षा प्रणाली का मानना है कि विद्यार्थी पूर्ण रूप से सक्रिय होता है।

'पुरानी' शिक्षा जिसमें शिक्षक की तुलना कुप्पी से की गई है व अधिक रियायती 'नई' शिक्षा जो विद्यार्थी को पूर्ण सक्रिय मानती है; बूबर इन दोनों दृष्टिकोणों की आलोचना करते हैं। वे 'समागम' के सिद्धांत की बात करते हैं जिसका अर्थ है कि सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में परस्परता होना अनिवार्य है। कम से कम शिक्षक की ओर से यह अपेक्षित ही है और वो भी उसके स्व को बाधित किए बिना। दरअसल इन विचारों का आशय एक शिक्षक की भूमिका से है जिस पर मैं अब आगे चर्चा करूंगी।

बूबर शिक्षा में संवाद की दो बुनियादी शर्तें बताते हैं- स्वायत्त भागीदार और स्वेच्छा से इस संबंध में प्रवेश। पहली शर्त शिक्षक से ये मांग करती है कि वह शिक्षक-शिष्य संबंध में भरोसे व तर्कसंगतता की सराहना करे। क्योंकि वह शिक्षक ही है जो स्वयं व शिष्य दोनों की वास्तविकता को जानने में सक्षम है। एक शिक्षक की जिम्मेदारी है कि उस ज्ञान का मूल्य समझे जो उसने अपनी सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में अर्जित किया है। बूबर विद्यार्थी की बिना शर्त स्वीकृति के खिलाफ आगाह करते हैं पर साथ ही साथ उसकी छुपी क्षमता को समझने व उसका समर्थन करने के लिए भी प्रेरित करते हैं।

दूसरी शर्त- स्वेच्छा व मुक्त चयन का सिद्धांत। शिक्षक के मत-प्रचारक व सत्तावादी स्वभाव की आलोचना है और यही नहीं, उनके हिसाब से पाठ्यक्रम की संरचना में विद्यार्थी की राय का शामिल न होना इसी तानाशाही प्रक्रिया का हिस्सा है। ऐसे परिदृश्य में, शिक्षा में संवाद का संपूर्ण उद्देश्य ही पराजित हो जाता है। यहां फिर से शिक्षकों की जिम्मेदारी बनती है कि वे अपने विद्यार्थियों को समझने की कोशिश करें।

एक और निष्कर्ष जो बूबर के विचारों से निकलता है वह यह है कि शिक्षण प्रक्रिया में अध्यापक का 'होना'। वे एक अर्थपूर्ण संवाद के लिए अपेक्षित वातावरण की बात करते हैं। शिक्षक का 'होना' अर्थात् उसके आचरण विद्यार्थियों के लिए स्वयं एक उदाहरण प्रस्तुत करें। इस तरह कई बार शिक्षक-विद्यार्थी के बीच संवाद बिना किसी बातचीत के भी संभव है। इसके लिए जरूरी हो जाता है कि शिक्षक स्वयं एक मिसाल पेश करके विद्यार्थियों का मार्गदर्शन करे।

यह बहुत महत्वपूर्ण है कि शिक्षक-विद्यार्थी का संबंध स्वतंत्र शिष्ययतों के रूप में हो। कलमन यरोन ने अपने बूबर पर लिखे निबंध में अध्यापन की कला का वर्णन शैक्षिक सीमाओं के लचीलेपन के तौर पर व्यक्त किया है। वे तर्क देते हैं कि- 'कम से कम दूरी अनुशासन के लिए व अधिकतम आत्मीयता संवाद को बढ़ावा देने के लिए' सच्ची शिक्षा के संदर्भ में बहुत अहम है।

मेरे अनुसार बूबर के विचारों का एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह भी है कि उन्होंने एक शिक्षक को 'छन्नी' से परिभाषित किया है। अलग-अलग समरूप शब्दों जैसे- छलनी/छन्नी, 'चयन' करने वाला- के जरिए वे शिक्षक की भूमिका को स्पष्ट करते हैं। जिस प्रकार छलनी उपयोगी वस्तुओं को छांटकर अलग कर देती है वैसे ही शिक्षक का कार्य है कि वो शिष्यों की क्षमताओं को सही दिशा दे व उनमें से उचित को छांटकर उभारे। तब जाकर एक विद्यार्थी अपनी संपूर्ण क्षमता को पहचानेगा व उसका सही प्रयोग करेगा। ऐसे में संवाद शिक्षण की एक उपयुक्त पद्धति के रूप में सामने आता है। वह शिक्षक जो विद्यार्थी के साथ समन्वय स्थापित करता है, वह उसकी रचनात्मक ऊर्जा का संवर्धन करने में सफल होता है।

हम ये विचार समझने के लिए इसकी समानता अभिसारी लेंस (Converging lens) से भी कर सकते हैं। प्रकाश की किरणें इस लेंस से गुजर कर जिस तरह एक नियंत्रित दिशा की ओर केंद्रित होती हैं, उसी प्रकार शिक्षक संवाद के जरिए विद्यार्थी की सहज प्रवृत्ति को लाभकारी दिशा में प्रवाहित कर सकते हैं।

यह जानने में संवाद बहुत असरदार साबित होता है कि विद्यार्थी क्या सोचता है, उसकी क्षमता क्या है व वह किस सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से आता है (क्योंकि ज्ञान सृजन में यह विशेष भूमिका अदा करते हैं) साथ ही वह उसे सीखने-सिखाने की प्रक्रिया का एक सक्रिय हिस्सा बनने में प्रभावी ढंग से मदद करता है।

बूबर के अनुसार 'नई' शिक्षा प्रणाली जो कि 'आजादी' के सिद्धांत पर आधारित है- वह भी अलोचना किए जाने लायक है। क्योंकि वे मानते हैं कि 'बाध्यता' का विपरीत 'समागम' होता है ना कि आजादी। इसका अर्थ है कि शिक्षक को 'केवल अपने लिए सोचने वाली आजादी' से विद्यार्थी को बचाना है। आजादी तो माध्यम मात्र है, लक्ष्य नहीं। यह बात फिर से बूबर द्वारा दी गई शिक्षा की इस परिभाषा की ओर इशारा करती है- 'मनुष्य द्वारा एक उपयुक्त संसार का चयन करना'। शिक्षा में संवाद हमें सिखाता है कि सीखने-सिखाने की प्रक्रिया का अस्तित्व दोनों भागीदारों की परस्परता पर निर्भर करता है।

अंत में यह कहा जा सकता है कि शिक्षक का कार्य अध्यापन में संवाद को स्थापित करना है। यह पद्धति शिक्षक व विद्यार्थी को समागम का अवसर देती है जिससे दोनों की रचनात्मक ऊर्जा को बल व दिशा मिलती है। ♦

**लेखक परिचय:** क्रिस्टोफर खाल्खो<sup>1</sup>, जया मिश्र<sup>2</sup> एवं रिचा चौहान<sup>3</sup> दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा शुरू किए गए द्विवर्षीय बी.एड. पाठ्यक्रम के पहले बैच में अध्ययनरत छात्र हैं।